



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 5.2  
 IJAR 2015; 1(12): 175-178  
 www.allresearchjournal.com  
 Received: 10-09-2015  
 Accepted: 11-10-2015

**प्रवीन शर्मा**  
 शोध छात्र, संस्कृत विभाग,  
 म.द.वि., रोहतक

## योगदर्शन में कर्मवाद

**प्रवीन शर्मा**

पतंजलि द्वारा सूत्ररूप में कथित कर्म के सिद्धान्त की गुत्थियां सर्वप्रथम भाष्यकार व्यास देव द्वारा सुलझाई गईं। उन्होंने भेदप्रभेदपूर्वक कर्मवाद का ऐसा स्वच्छ चित्रण किया है कि उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, रामानन्दयति आदि सभी व्याख्याकारों की बुद्धि में यह समानरूप से उतरा। कर्म के भेद-कर्मजाति चार प्रकार की है <sup>1</sup> - पाप-कर्मजाति, पुण्य-कर्मजाति, पुण्यपापमिश्रित-कर्मजाति तथा पुण्यपाप से रहित कर्मजाति। पूर्व-पूर्व कर्मजाति की अपेक्षा उत्तरोत्तर कर्मजाति श्रेयान् है।

जीवन्मुक्त योगी के दैनिक क्रिया-कलापों में अशुक्ल-अकृष्णकर्म दृष्टिगत होता है। योगी द्वारा पापकर्म न किए जाने से तथा ध्यानादिपुण्य कर्म निष्काम भाव से किए जाने से उसकी कर्मराशि अशुक्लाकृष्ण कही जाती है। आशय यह है- जीवन के चरम पुरुषार्थ मोक्ष-प्राप्ति के साधनभूत अविप्लुतसत्त्वपुरुषान्यताख्याति-सिद्ध जीवन्मुक्त योगी ध्यानादि शुभ क्रियाओं को किसी विशेष फल-प्राप्ति की भावना से नहीं करता है। ध्यान आदि उसे अन्तर्मुखी सात्त्विक-चित्त की सहज क्रियाएं हैं। योगी जब शुक्ल कर्मों को ही निष्काम भाव से करता है, तब उसके द्वारा कृष्ण कर्म किए जाने की सम्भावना नहीं की जा सकती है। अतः ज्ञानी एवं निष्कामी के कर्म अशुक्लाकृष्ण होते हैं। श्रुति एवं स्मृति शास्त्रों में भी योगियों की कर्मराशि उपर्युक्त प्रकार की प्रतिपादित हुई है। <sup>2</sup> योगियों से नीचे किन्तु सामान्य मनुष्यों से ऊपर उठे हुए तपस्वी, स्वाध्यायी एवं ध्यायी पुरुषों की कर्मराशि शुक्ल होती है। शुक्लकर्मराशि मनोमात्रसाध्य है। अतः बाह्य-साधनाधीन न होने से उसमें परपीडा आदि का अवकाश नहीं है तपस्, स्वाध्याय तथा ध्यान आदि क्रियाओं से सामाजिक अहित नहीं होता है। तपस्वी पुरुषों द्वारा केवल शुक्लकर्म किए जाने से उनके चित्त का सत्त्वगुण पराकाष्ठा को प्राप्त होता है। क्योंकि चित्त की पूर्ण सात्त्विक अवस्था में ही व्यक्ति का झुकाव शुक्ल कर्म की ओर होता है तपस्वी आदियों की अपेक्षा सामान्य श्रेणी के अज्ञ एवं कामी व्यक्तियों की कर्मराशि शुक्लकृष्ण होती है। वे अच्छा तथा बुरा दोनों प्रकार का कर्म करते हैं। क्योंकि उनके कर्म बाह्य साधनों से प्रभावित रहते हैं। धनोपार्जन की इच्छा से व्यक्ति दूसरे के धन को अनुचित रूप से छीनता है। अपनी झूठी मानप्रतिष्ठा के लिए दूसरों का अपमान करता है। अन्नोत्पादन की इच्छा से जीवहत्या एवं बैल आदि को कष्ट देता है। कार्य की सिद्धि के लिए व्यक्ति न्यूनाधिकरूप से अशुभ कर्म करता है। चैतिक रजोगुण के बलवान होने पर इस प्रकार के अशुभ कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है दूसरी तरफ सत्त्वगुण के उद्रेक काल में वह परोपकारक कर्म भी किया जाता है। अतः साधारण कोटि के व्यक्ति मिश्रित कर्म करते हैं। अत्यन्त निकृष्ट कोटि की पापी दुरात्माओं की कर्म-राशि कृष्ण ही होती है। क्योंकि उनका तमोगुण अन्य दो गुणों को पूरी तरह से दबाए रहता है। अतः उनका तमोमय चित्त अपने अनुरूप कृष्णकर्म ही निरन्तर करता है।

ऊपर वर्णित चार प्रकार की कर्मराशियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- कर्माशयोत्पादक कर्मराशि एवं कर्माशयानुत्पादक कर्मराशि। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत कृष्णकर्म, शुक्लकर्म एवं कृष्णशुक्लकर्म हैं। अशुक्लाकृष्ण-कर्मजाति द्वितीय प्रकार की है जीवन्मुक्त योगियों द्वारा सम्पादित कर्मों से धर्माधर्मरूप कर्माशय नहीं बनता है। फलस्वरूप उन्हें देहान्तर नहीं धारण करना पड़ता है। इसलिए व्यासभाष्य आदि में ऐसे योगियों को चरमदेहवान् कहा गया है अन्य त्रिविधजातीय कर्मों से कर्माशय बनता है, क्योंकि वे फलवान् हुआ करते हैं। ऊपर वर्णित कर्म के क्षय का एकमात्र उपाय है, उन्हें भोग लेना। अन्यथा वे जन्मन्मान्तपर्यन्त व्यक्ति का पीछा किया करते हैं।

शुभाशुभ कर्मों की उत्पत्ति का मूल हेतु- व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र आदि सभी व्याख्याकारों का कहना है कि काम, क्रोध, लोभ एवं मोह मनुष्य को अच्छे या बुरे कर्मों में प्रवृत्त कराते हैं। <sup>3</sup> काम-भावना स्वर्गस्थ देवाङ्गनाओं के भोगेच्छुक को ज्योतिष्टोम आदि शुभकर्म में प्रवृत्त कराती है। अथवा वही काम-भावना परस्त्री के लोलुप से बलात्कार जैसी पाशविक क्रिया करवाती है। इसी प्रकार क्रोध मनुष्य से दोनों प्रकार के कर्म करवाता है। उदाहरणस्वरूप पिता द्वारा अपमानित हुए ध्रुवकुमार में

**Correspondence**  
**प्रवीन शर्मा**  
 शोध छात्र, संस्कृत विभाग,  
 म.द.वि., रोहतक

ऐसी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हुई कि उसने पिता को जीतने की इच्छा से तपश्चर्या जैसे कष्टसाध्य शुभकर्म की ओर ध्रुवकुमार को प्रवृत्त कराया और उसकी तपश्चर्या सफल भी हुई। अथवा क्रोध के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरे का सिर काटने के लिए भी प्रवृत्त होता है। लोभ के कारण व्यक्ति परद्रव्य का अपहरण आदि निन्दित कर्म करता है अथवा यदि शुभकर्म के अनुष्ठान के लोभ से नीतिपूर्वक द्रव्य का संग्रह करता है। मोह भी व्यक्ति को अच्छे-बुरे कर्म में प्रवृत्त कराता है। उदाहरणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य पर मुग्ध होकर वज्राङ्गनाएं सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वात्मना अनुरक्त हुईं। यह अनुरक्ति मोहनाशक मोक्षदाता भगवान् की प्राप्ति के निमित्त होने से श्रेयस्करी थी; प्रेयस्करी नहीं। ऐहलौकिक या पारलौकिक फल के लोभ से ग्रस्त व्यक्ति पशुहिंसा आदि अशुभ क्रियाओं में धर्म-बुद्धि करके प्रवृत्त होता है। एतावता मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की क्रिया के मूल में कामादि में से कोई न कोई भावना काम करती है। कूर्मपुराण में रागादि को शुभाशुभ कर्म का हेतु कहा गया है।<sup>14</sup> कर्मजन्य कर्माशय में साक्षात् फलदातृता - पातंजल योग के व्याख्याकारों ने कामादि से प्रेरित शुभाशुभ क्रियाओं तथा तज्जन्य शुभाशुभ संस्कारों को विपाकारम्भी बतलाया है। योगशास्त्र में भी ज्ञानरूप अथवा क्रियारूप कर्म का तृतीय क्षण में नाश माना गया है। क्रिया नष्ट होने से पूर्व अपने फल को उत्पन्न नहीं कर पाती है। शुभाशुभ कर्म और उससे मिलने वाले फल के मध्य अल्प या बहुत समय का अन्तर रहता है। अतः पतंजलि ने तत्-तत् कर्मजन्य कर्माशय के द्वारा फलोत्पत्तिपर्यन्त कर्मों की स्थिति मानी है। वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों ने 'कर्माशय' शब्द का शुभाशुभकर्मजन्य धर्माधर्मरूप संस्कार अर्थ किया है। ये कर्मसंस्कार विपाकोन्मुख हुए बिना कथमपि नष्ट नहीं होते हैं। ये चित्तभूमि में बीजरूप से पड़े रहते हैं और अवसर आने पर कर्त्ता को शुभाशुभ कर्म का सुख-दुःख भोग प्रदान करते हैं। कृष्णादि त्रिविध कर्मों की दृष्ट से कर्माशय तीन प्रकार का है - कृष्ण-कर्माशय, शुक्ल-कर्माशय तथा कृष्ण-शुक्ल-कर्माशय। कर्माशय का विलम्ब अथवा अविलम्ब से विपाकोन्मुख होना - अतीत जन्मों में किए गए परोपकारक एवं परापकारक कर्मों से जायमान धर्माधर्मरूप कर्मसंस्कारों का वर्तमान जन्म में फलोन्मुख होना अनिवार्य नहीं है। वर्तमान जन्म में किए गए शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न कर्माशय विपाकोन्मुख नहीं भी हो सकता। इस स्थिति में व्याख्याकारों ने कर्माशय के दो भेद किए हैं - दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय। कर्माशय की यह दृष्ट अथवा अदृष्ट जन्मवेदनीयता शुभ अथवा अशुभ कर्मों को क्रमशः पूर्ण मनोयोग अथवा सामान्य मनोयोग के साथ करने के कारण है। शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक सभी शक्तियों के द्वारा ईश्वर, देवता अथवा ऋषि-मुनियों की अराधना एवं सेवा-शुश्रूषा आदि करने से अनुसेवी का ऋणी हुआ पुण्यकर्माशय वर्तमानजन्म में ही अत्युत्कृष्ट फल देने में समर्थ होता है। इसी प्रकार श्रद्धेय तपस्वियों का अपमान करने से, दुःखी व्यक्ति को जानबूझकर पीड़ित करने से अथवा अपने विश्वस्त मित्र को छलने से व्यक्ति का जो पाप-कर्माशय संचित होता है, वह भी तुरन्त कष्टकारक फल प्रदान करता है।<sup>15</sup> शिलादमुनि के पुत्र नन्दीश्वर कुमार ने बाल्यावस्था में महादेव की अविचल भक्ति करके जिस शुभकर्माशय का संचय किया था वह दृष्टजन्मवेदनीय था। इसी प्रकार इन्द्र-पद-प्राप्ति के अभिमान में चूर हुए राजा नहुष द्वारा ऋषि मुनियों पर चलाए गए पादप्रहार जैसे अत्यन्त निन्दित कर्म से दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय उत्पन्न हुआ। मनुष्य के जीवन में सामान्यरूप से घटित होने वाले अच्छे-बुरे कर्म अग्रिम जीवन में फल प्रदान करते हैं। वर्तमान जीवन में अपक्व शुभाशुभ कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय कहलाता है। देव, मनुष्य, पशु, तिर्यक् आदि नानाविध योनियों में से उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट योनि को दीर्घकाल अथवा अल्पकालपर्यन्त धारण करना भी कर्माधीन है। क्योंकि कर्म के मुख्य फल सुख-दुःख के भोगार्थ योगायतन शरीर की

अनिश्चितकालपर्यन्त स्थिति मानी गई है। इस दृष्टि से पातंजल-योगदर्शन में कर्मविपाक के तीन भेद किए गए हैं - जातिविपाक, आयुविपाक तथा भोगविपाक। 'जाति' शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने 'जन्म' अथवा देवादि योनि किया है। वस्तुतः देवादि कोटि के शरीरों के साथ पुरुष का औपाधिक सम्बन्ध जन्म है। इस प्रकार के औपाधिक सम्बन्ध की निश्चित कालपर्यन्त स्थिति आयु है। सुख-दुःखात्मक शब्दादि वृत्ति भोग है। 'भोग' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि - शब्दादि विषयों का ज्ञान भोग नहीं है, अपितु नानाविध विषय ज्ञान से जायमान सुख-दुःख की अनुभूति ही 'भोग' शब्द का अर्थ है। क्योंकि सूत्रकार ने 'ते हलादपरितापफलाःपुण्यापुण्यहेतुत्वात्' - इस अग्रिमसूत्र से जात्यादि त्रिविध विपाकों का घटक हलाद तथा परिताप माना है, विषयसाक्षात्कार नहीं।

पातंजल-योग के व्याख्याकारों का मत है कि अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय ही जाति, आयुष एवं भोग संज्ञक त्रिविध फलों का हेतु है।<sup>16</sup> दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय जातिविपाक के अतिरिक्त केवल भोग का हेतु होने से एकविपाकारम्भी अथवा आयुष तथा भोग दोनों को हेतु होने से विद्विपाकारम्भी होता है। जैसे अगस्त्य ऋषि पर किए गए पार्ष्णिप्रहाररूप दुष्टत्य के कारण राजा नहुष को सर्पयोनि का कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ा था। अतः उनका दृष्टजन्मवेदनीय निन्दित कर्माशय केवल भोग का हेतु बना। उससे पूर्वजन्मीय कर्मों के अनुसार प्राप्त श्रेष्ठजाति एवं दीर्घ-आयुष में अन्तर नहीं आया। अत्यन्त साधारण सुख तथादुःखभोगपूर्वक आठ वर्ष की परिमित आयुष वाले नन्दीश्वर कुमार ने महादेव की अविचल भक्ति से उत्पन्न शुभकर्माशय से दीर्घायुष तथा दिव्यभोग प्राप्त किया। अतः उनका भक्तिजन्य दृष्टजन्मवेदनीयकर्माशय द्विविपाकारम्भ हुआ। उपर्युक्त आशय को स्पष्ट करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं - जैसे मनुष्य आदि शरीर का वार्द्धक्य रूप से परिणाम होता है, उसी प्रकार नहुष एवं नन्दीश्वर का सर्प एवं देवरूप से परिणामान्तर हुआ; जन्मान्तर की उत्पत्ति नहीं। क्योंकि उनकी नवीन देह की उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है इस प्रकार दृष्टजन्मवेदनीयकर्माशय से जन्मान्तर रूप फल की प्राप्ति नहीं होती है। अदृष्टजन्मवेदनीयकर्माशय ही जातिविपाक के साथ आयुष तथा भोग दोनों प्रकार का फल देने में समर्थ होता है।

इस प्रसङ्ग में वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों ने यह भी बतलाया है कि नारकियों एवं क्षीणक्लेश वाले योगियों से भिन्न अन्य प्राणियों का दृष्टजन्मवेदनीय एवं अदृष्टजन्मवेदनीय दोनों प्रकार का कर्माशय होता है। नारकीय एवं क्षीणक्लेश वाले योगियों में दोनों प्रकार का कर्माशय नहीं पाया जाता है। जैसे अविप्लुतविवेकख्यातिसम्पन्न योगियों का अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है। क्योंकि विवेकज्ञान के सिद्ध हो जाने से उनके संचित एवं क्रियमाण कर्म स्वतः नष्ट हो जाते हैं और प्रारब्ध-कर्म को वे भोग द्वारा नष्ट करते हैं। जीवन्मुक्त अवस्था में वे जो कुछ कर्म करते हैं उससे कर्माशय ही नहीं बनता है तो वह अगले जन्म में फलोन्मुख होगा - ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसलिए व्याख्याकारों ने अविप्लुतविवेकख्यातिमान जीवन्मुक्त योगियों में अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता है। क्योंकि विवेकज्ञान के सिद्ध हो जाने से उनके संचित एवं क्रियमाण कर्म स्वतः नष्ट हो जाते हैं और प्रारब्ध-कर्म को वे भोग द्वारा नष्ट करते हैं। जीवन्मुक्त अवस्था में वे जो कुछ कर्म करते हैं उससे कर्माशय संचित नहीं होता है। इस प्रकार जब उनका नवीन कर्माशय ही नहीं होता है। क्योंकि कुम्भीपाक, रौरव जैसे घोर नरक के प्रापक अत्यन्त गर्हित कर्मों से संचित हुए कर्माशय से उत्पन्न होने वाली सहस्रवर्षपर्यन्त उपभोगयोग्य दारुण यातनाएं मनुष्य-शरीर से नहीं भोगी जा सकती। अतः नारकीय कर्म के कर्त्ताओं को स्वकृत कर्मजन्य फलोपभोग के लिए नारकीय योनि अवश्य ग्रहण करनी पड़ती है - ऐसा वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों का मत है।

विज्ञानभिक्षु, भावागणेश एवं नारकियों के दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के खण्डनार्थ विज्ञानभिक्षु की समाधान-पद्धति का अनुसरण करके उनके द्वारा उपन्यस्त हेतु को स्पष्ट शब्दों में बतलाया है। उसका आशय यह है – जिस प्रकार मनुष्य देह भोगभूमि एवं कर्मभूमि दोनों हैं, उसी प्रकार का नारकीय देह नहीं है। नारकीय देह का निर्माण पूर्वजन्मीय नृशंस कर्मों के कष्टकारक फलोपभोग के लिए ही होता है, इसलिए वह मनःप्रधान भी है अन्य इन्द्रियों के निरुद्ध रहने के कारण नारकीय पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र ही नहीं है। अतः उनका दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं बन सकता है।

कर्माशय के परिपाक का काल भिन्न-भिन्न होने से ऊपर कर्माशय की द्विविधता सिद्ध की गई है। सभी कर्माशय नियमितरूप से अवश्य फल देते हैं – ऐसा नियम नहीं है। वस्तुतः कर्माशय नियतविपाकारम्भ एवं अनियतविपाकारम्भ भेद से दो प्रकार का है। उनमें से दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियतविपाकारम्भी होता है; अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में फलोन्मुखता के दोनों रूप – नियत एवं अनियत पाए जाते हैं। सामान्यतः अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियमितरूप से तीनों प्रकार फल देता है। कुछ कर्म-संस्कारों के फलोन्मुख होने में अनेक प्रकार की बाधाएं उपस्थित होती हैं। अतः व्यासदेव, वाचस्पतिमिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट तथा हरिहरानन्द आरण्यक आदि आचार्यों ने अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी कर्माशय को तीन गतियां बतलाई हैं।<sup>17</sup>

फलदान के बिना कृतकर्म का नाश – जिस प्रकार अपने विरोधी अन्धकार का नाश करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार तपस्, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान जैसे विशुद्ध कर्मों का निरन्तर अभ्यास करते रहने से जायमान प्रबल पुण्य कर्माशय व्यक्ति द्वारा पूर्व जन्म में किए गए पाप कर्माशय अथवा पुण्यपापमिश्रित कर्माशय को नष्ट करने में समर्थ होता है।

प्रधान कर्म के अंगभूत कर्म का स्वतन्त्ररूप से फलोन्मुख न होना – किसी प्रधान क्रिया के सम्पादनार्थ अंगभूत क्रियाएं की जाती हैं। वे स्वतन्त्ररूप से अपना फल देने में समर्थ नहीं होती हैं। अपितु प्रधान क्रिया के साथ मिलकर ही वे फल दिया करती हैं। अतः प्रधान की अंगभूत क्रियाएं प्रधाननिरपेक्ष होकर अतिशीघ्र अपना फल न दे सकने के कारण अनियतविपाकारम्भी हैं। जैसे मीसांसाशास्त्र<sup>18</sup> के अनुसार स्वर्ग का साधनभूत ज्योतिष्टोमयाग के पशुहिंसात्मक अनेक अंगयाग हैं। अतः यजमान स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम को याग के अंगभूत पशुहनन के द्वारा ही निष्पन्न कर पाता है। इस प्रकार पुण्यकारक ज्योतिष्टोमात्मक प्रधान कर्म में उसकी अंगभूत पशुहिंसादि क्रिया का आवापगमन होता है। पशुहिंसा याग का साधन होने से पशुहिंसाऽन्वितयाग प्रधान रूप से पुण्य का जनक है। लेकिन 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' – इस निषेधवाक्य में हिंसा को अनर्थ का हेतु कहा गया है अतः पशुहिंसादि अंगयाग के दो फल हैं, पहला, प्रधानयाग का उपकार करना और दूसरा दुःखरूप अनर्थ उत्पन्न करना। लेकिन हिंसा यागात्मक प्रधान-कर्म से निरपेक्ष होकर अपना अनर्थरूप फल देने में समर्थ नहीं होती है। जब तक प्रधान कर्म अपना फल नहीं देता है तब तक उसकी सहायता करने के लिए यह बैठी रहती है; और जब प्रधान कर्म अपना समग्र फल देने लगता है, तब अप्रधानकर्म भी प्रधान का उपकार करते हुए उसके साथ-साथ अपना अनर्थ फल भी देता है। इसी प्रकार अप्रधानभूत यमादि अंग प्रधान धारणा, ध्यान एवं समाधि अंगी के साथ होकर ही साधक को सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधिरूप फल प्रदान करते हैं। अतएव अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भी प्रधान क्रिया की अंगभूत क्रिया में स्वतन्त्र रूप से फल न दे सकने की अनियमितता सिद्ध होती है।

नियतविपाक वाले प्रधान कर्माशय से अभिभूत हुए अप्रधान कर्माशय का चिरकाल तक प्रसुप्त रहना – अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भ कर्माशय की तृतीय गति पर विचार किया जा रहा है। भाष्य में प्रयुक्त 'प्रधान' तथा 'अप्रधान' शब्द का अर्थ है – परस्पर निरपेक्ष जिन कर्मों को निश्चित रूप से फल देने का

अवसर प्राप्त हो चुका है। ऐसे बलवान् कर्म 'प्रधान' शब्द से अभिहित हैं और जिन्हें फल देने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे दुर्बल कर्म 'अप्रधान' शब्द से निर्दिष्ट है।

अदृष्टजन्मवेदनीय अप्रधानकर्माशय फलदान में लगे प्रधान कर्माशय द्वारा प्रतिबद्ध होकर दो, तीन, चार, पांच – कर्म जन्मपर्यन्त प्रसुप्त अवस्था में रहता है। इस प्रकार अप्रधान कर्माशय की चिरकालिक प्रसुप्ति उसकी अनियमितविपाकारम्भिता है। उदाहरणपार्थ, किसी व्यक्ति से बाल्यावस्था में कुछ पुण्य कर्म किए और यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाओं में विषयभोग की मादकता से अनेक पाशविक कृत्य किए; तो ऐसे व्यक्ति की प्रधान पापराशि ही मरण के पश्चात् अभिव्यक्त होकर पशुजन्म का हेतु होती है। अतः पशु-योनि में पड़े व्यक्ति का अप्रधान पुण्यकर्माशय – जो मानुषयोनि द्वारा भोग है – फलोन्मुख नहीं होता है। वह दीर्घकाल का चित्त में बीजभाव से पड़ा रहता है जब तक उसी के समान उसका अभिव्यंजक कर्म उसे विपाकोन्मुख नहीं करता है। कर्म के प्रमुख फल जन्म को लेकर योगशास्त्र में कर्म एवं जन्म की आनुपातिक संख्या के सम्बन्ध में विशेष विचार किया गया है<sup>19</sup> :-

1. क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है?
2. क्या एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है?
3. क्या अनेक कर्म युगपत् अनेक जन्मों के कारण हैं?
4. क्या अनेक कर्म एक जन्म के कारण हैं?

सामान्यतः भाष्यकार व्यासदेव तथा विशेषतः भाष्य के व्याख्याकारों ने प्रथम तीन विकल्पों में दोष की उद्भावना कर चतुर्थ विकल्प को निम्नांकित प्रकार के निर्दुष्ट सिद्ध किया है –

प्रथम विकल्प का निराकरण – एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता। यदि पूर्व के अनन्त जन्मों में संचित हुए असंख्य कर्मों में से किसी एक कर्म का एक जन्म के द्वारा क्षय माना जाय तो फल देने के लिए अवशिष्ट अतीत के असंख्य कर्मों एवं वर्तमान जीवन में किए नूतन कर्मों में से कौन सा कर्म सर्वप्रथम फल देगा? इसका नियम नहीं रहेगा। फलस्वरूप लोगों की शुभकर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होती। व्यक्ति सोचने लगेगा कि अभी तो प्राक्तन असंख्य कर्मों का फल भोगना अवशिष्ट है। यदि वर्तमानकाल में भौतिक इच्छाओं को तिजांजलि देकर कष्टसाध्य शुभ कर्म किया भी जाय तो उसका कब फल मिलेगा, यह निश्चित नहीं है। अतः व्यर्थ में शुभकर्म क्यों किया जाय?

द्वितीय विकल्प का निराकरण – एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है – यह द्वितीय विकल्प प्रथम विकल्प से अधिक दोषपूर्ण है। इसमें कर्म एवं फल का सम्बन्ध ही खण्डित प्रतीत होता है। एक ही कर्म से यदि अनेक जन्म होते रहें तो पूर्वकालिक तथा वर्तमानकालिक असंख्य अपक्व कर्मों को फल देने का अवसर प्राप्त न हो सकेगा। व्यक्ति भी शुभादि कर्मों को विफल जानकर उन्हें करने के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। प्रथम विकल्प के अनुसार एक जन्म के द्वारा एक कर्म का नाश मानने पर जब प्रेक्षादान् पुरुष की शुभ कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होती है, तब एक कर्म का अनेक जन्मों के द्वारा नामश मानने पर व्यक्ति की कैसे शुभ कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति हो सकती है?

तृतीय विकल्प का निराकरण – यदि अनेक कर्मों से अनेक जन्म होने का तृतीय विकल्प प्रस्तावित किया जाए तो यह भी उपयुक्त नहीं है। मनुष्य द्वारा कत अनेक कर्मों से एक काल में अनेक जन्म हों, यह सम्भव नहीं है। क्योंकि एकमात्र योगी में योगबल से युगपत् अनेक शरीरों का निर्माण करने की शक्ति होती है, सामान्य मनुष्यों में नहीं। इस प्रकार तृतीय विकल्प के अनुसार एक ही काल में हजारों कर्मों का भोग द्वारा क्षय तथा अवशिष्ट साम्प्रतिक कर्मों को फल देने का अवसर प्राप्त होने पर भी साधारण मनुष्य के युगपत् अनेक जन्म न हो सकने से तृतीय विकल्प भी त्याज्य है।

चतुर्थ विकल्प का समर्थन – अनेक कर्मों से एक जन्म होता है यह चतुर्थ विकल्प न्यायसंगत है। जन्म तथा मरण की अवधि में व्यक्ति द्वारा गौण प्रधानभाव से किए गए अच्छे-बुरे कर्मों से

संचित हुए कर्मसंस्कार-वर्तमानजन्म के आरम्भक कर्मों का भोग द्वारा क्षय तथा तन्निमित्तक प्राप्त-शरीर का नाश होने पर-फल प्रदान करने के लिए युगपत् अभिव्यक्त होकर अपने अनुरूप एक जन्म को निष्पन्न करते हैं।<sup>10</sup>

उपर्युक्त चतुर्थ विकल्प के अनुसार अनेक कर्माशयों में युगपत् एक अन्मरूप फलप्रदातृता होने से कर्माशय को एकभाविक कहा है। लेकिन यह सामान्य नियम है। क्योंकि अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भ कर्माशय ही, निश्चित रूप से भव प्रदान करता है। अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाकारम्भ कर्माशय की इससे भिन्न स्थिति है। इसमें जन्मरूप फल देने की योग्यता है, लेकिन अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भी कर्माशय की भांति यह तुरन्त मरण के पश्चात् जन्मादि फल नहीं दे पाता है। प्रायश्चित्तादि द्वारा इसकी फलदान-शक्ति नष्ट भी की जाती है। इसलिए व्याख्याकारों ने इसे एकभाविक नहीं माना है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय भवरूप जन्म का हेतु ही नहीं है। उसमें एकभाविकवाद किसी भी तरह चरितार्थ नहीं होता है। अतः अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भ कर्माशय की भांति यह तुरन्त मरण के पश्चात् जन्मादि फल नहीं दे पाता है। प्रायश्चित्तादि द्वारा इसकी फलदान-शक्ति नष्ट भी की जाती है। इसलिए व्याख्याकारों ने इसे एकभाविक नहीं माना है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय भवरूप जन्म का हेतु ही नहीं है। उसमें एकभाविकवाद किसी भी तरह चरितार्थ नहीं होता है। अतः अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकारम्भी कर्माशय में ही एकभाविकत्व का नियम पूर्णतया लागू होता है। कर्माशय के सदृश वासना एकभवपूर्विका नहीं होती है - इसका सहेतुक प्रतिपादन करने से पूर्व आपाततः तुल्य प्रतीत होते हैं। वस्तुतः दोनों में अन्तर है। विपाक का हेतुभूत धर्माधर्मात्मक संस्कार कर्माशय कहा जाता है। कर्माशयजन्य विपाक से जायमान भोग-संस्कार वासना कहा जाता है। यही वासना एवं कर्माशय में सूक्ष्म भेद है।

जिस प्रकार शुभाशुभकर्म से उत्पन्न पुण्ययापुण्यरूप कर्माशय एकभाविक होता है, उसी प्रकार क्लेश की हेतुभूत और कर्मफल के अनुभव से उत्पन्न होने वाली भोगानुकूल वासना एकभाविक नहीं होती है। यदि वासना को एकभाविक माना जाए तो मनुष्य-शरीर के पश्चात् प्राणी को जब कर्मानुसार पशु-शरीर प्राप्त होगा तब पशुचित भोग के अनुकूल वासना न रहने से वह उसका भोग नहीं कर सकेगा। क्योंकि वासना के बिना भोग नहीं होता है। और यदि वासना को कर्माशय के समान एकभाविक न मानकर अनादि माना जाए तो मनुष्य-शरीर के पश्चात् जब प्राणी का पशुवादि योनि में अवतरण होता है, तब पूर्व के किसी जन्म में पशुशरीर से जो भोग का अनुभव किया था उससे उत्पन्न हुई वासना ही वर्तमान पशु-शरीर में भोग की हेतु बन जाती है इसलिए पतंजलि ने कर्मफल के अनुरूप ही वासनाओं की अभिव्यक्ति मानी है। अतः जीव के कर्मानुसार देव, मनुष्य, तिर्यक, पशुवादि योनियों में अनेक बार भ्रमण करने के सिद्धान्त की स्थापना के लिए वासना को अनैकभाविक मानना अपरिहार्य है। एक जन्म में वासना का नाश नहीं होता है, अपितु अनेक जन्मों तक वह विद्यमान रहती है। कर्मविपाक के अनुरूप वासना की अभिव्यक्ति कही गई।

इस प्रकार एकभाविक कर्माशय की तुलना में वासना को अनेकभाविक सिद्ध करने के लिए वासना तत्त्व पर विचार किया गया है। इससे पातंजलयोग सम्मत कर्म का सिद्धान्त परिपुष्ट होता है।

चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दार्शनिक कर्म-सिद्धान्त को मानते हैं और जीवन के लिए उसे आवश्यक भी समझते हैं। क्योंकि कर्म का शाश्वत एवं सार्वभौम नियम जगत् की नैतिक व्यवस्था का मूल आधार है। यह मनुष्य को भागवादी एवं निराश नहीं बनाता है, अपितु उसे शुभ कर्म की ओर प्रेरित करता है। साधक योगादि आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करके अन्त में कर्म के नियम का अतिक्रमण करता है और दुःख तथा जन्म-मरण के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

## संदर्भ सूची

1. भास्वती, पृ. 399
2. गीता 4.20
3. व्यास भाष्य, पृ. 161
4. कूर्म पुराण 3.20-21
5. व्यास भाष्य, पृ. 162
6. वही, पृ. 168
7. योग वार्तिक, पृ. 172
8. तत्त्व वैशारदी, पृ. 172
9. व्यास भाष्य, पृ. 166
10. नागेशभट्टीयवृहदयोगसूत्रवृत्ति, पृ. 274